न्यायपालिका की आलोचना कितनी सही ?

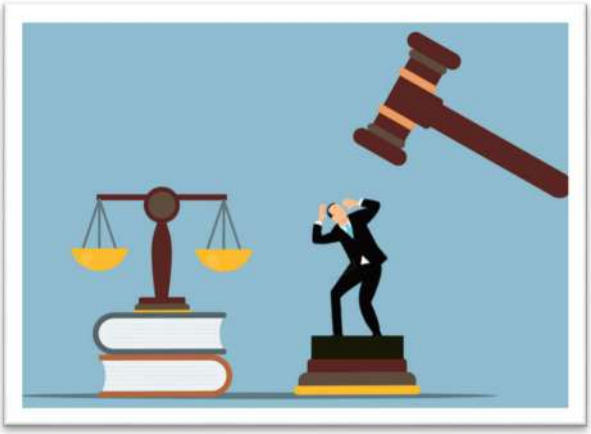

विधायिका की सर्वोच्चता के नाम पर न्यायपालिका पर धौंस जमाने की कोशिश लोकतंत्र का विकास नहीं कर सकती है, बल्कि वह लोकतंत्र के लिए खतरा है। यह बात उस संदर्भ में कही जा रही है, जहाँ भाजपा और राज्यसभा के सभापति ने शक्तियो के पृथक्करण तथा नियंत्रण एवं संतुलन के संबंध में न्यायपालिका की निराधार आलोचना की है। ऐसा किया जाना कितना उचित है या अनुचित?

कुछ बिंदु -

- विधायी और कार्यवाही निर्णयों की न्यायिक समीक्षा भारत के संवैधानिक लोकतंत्र का अभिन्न अंग है। इससे निर्धारित होता है कि निर्णय संविधान के अनुरूप है या नहीं। यहां तक कि संवैधानिक संशोधन भी 'मूल ढांचे' के परीक्षण के अधीन है।
- कानून बनाने और उसके प्रवर्तन में न्यायिक हस्तक्षेप के कई रास्ते हैं।

(1) अनुच्छेद 13 न्यायपालिका को मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कानूनों को रद्द करने की शक्ति देता है।

(2) अनुच्छेद 32 और 226 सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों को क्रमशः मौलिक अधिकारों और उससे आगे के प्रवर्तन के लिए रिट जारी करने की शक्ति देते हैं।

यह धारणा कि न्यायपालिका विधायिका के अधीन है, गलत है, क्योंकि संविधान ऐसा नहीं करता।

- न्यायपालिका से अपेक्षा की जाती है कि वह कानून के शासन को विधायिका के दबाव से बचाए।
- देश की विभिन्न संस्थाओं के बीच इस रचनात्मक घर्षण में ही एक समाज को शासन की स्थिरता मिलती है।
- हाल के संदर्भ में देखें, तो कार्यपालिका और विधायिका के बीच के अंतर को मिटाने से भारत में राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर शासन में जवाबदेही का संकट पैदा हो रहा है।

- यदि हाल के अपने एक निर्णय में न्यायपालिका ने विधानसभा द्वारा पारित कानूनों पर समय सीमा तय करके विधायिका के अधिकार को बहाल किया है। न्यायपालिका के आलोचक इस बिंदु को भूल रहे हैं।

'द हिंदू' में प्रकाशित संपादकीय पर आधारित। 23 अप्रैल, 2025